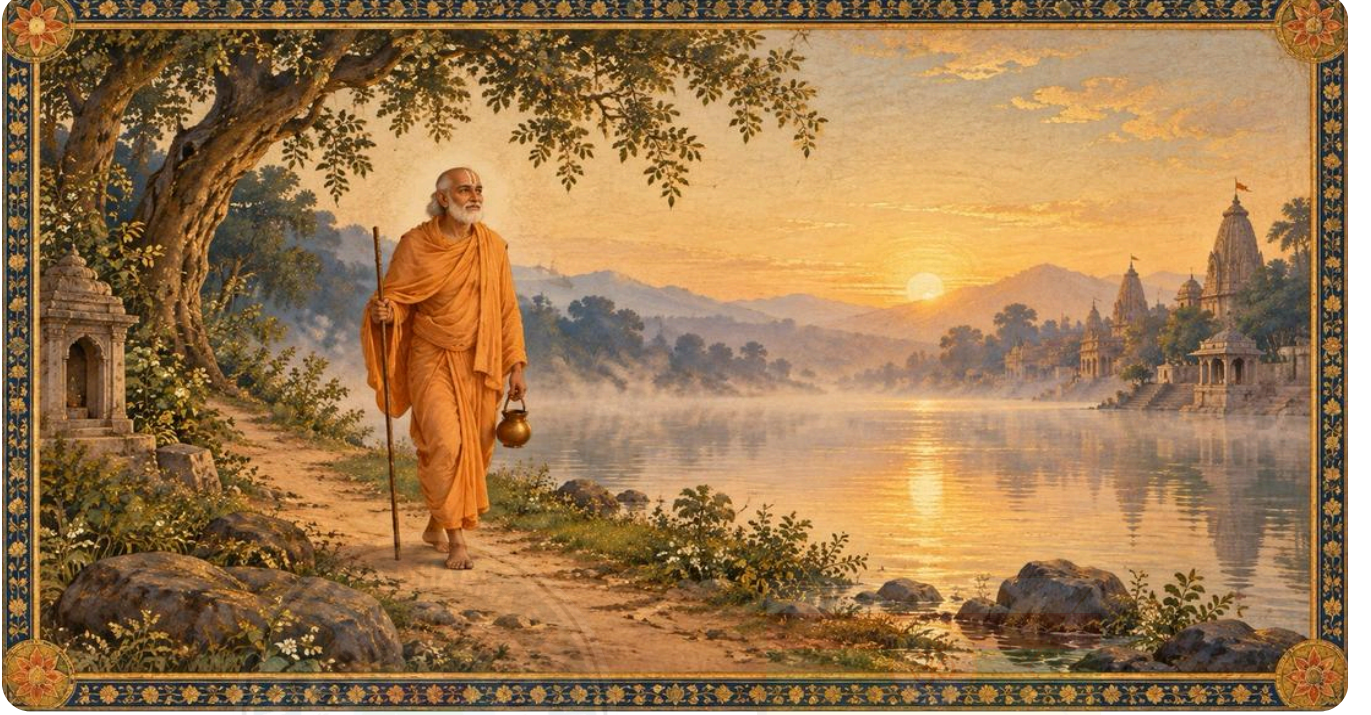


श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 11 अध्याय 18: वर्णाश्रम-धर्म

5 October 2026



उद्धव को दिए जा रहे अपने अन्तिम उपदेश को आगे बढ़ाते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थाश्रम से परे के पावन मार्ग को उद्घाटित करते हैं — वानप्रस्थ की तपस्या, परिव्राजक के दण्ड तथा कमण्डलु, और वह एक सत्य जो जीवन की हर अवस्था का मुकुट है: भगवान् को प्रेमपूर्वक अर्पित किया गया कोई भी कर्तव्य ही घर लौटने का निश्चित मार्ग बन जाता है।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम में आपका स्वागत है, जो श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं तथा शिक्षाओं के माध्यम से एक भक्तिपूर्ण यात्रा है। उद्धव को दिए जा रहे अपने अन्तिम उपदेश की इस कड़ी में, भगवान् अब गृहस्थाश्रम से परे के जीवन का वर्णन करते हैं: वन में जटाधारी तथा वल्कलधारी जीवन, और फिर गृहत्यागी परिव्राजक का केवल एक दण्ड तथा कमण्डलु। वे सिखाते हैं कि मौन, अहिंसा तथा स्थिर श्वास — न कि केवल वह दण्ड जो हाथ में हो — ही सच्चे संन्यासी के लक्षण हैं, और विवेकी जन प्रत्येक प्राणी में उसी एक आत्मा को देखते हैं, मान तथा अपमान दोनों को समान भाव से सहते हुए। और जीवन की हर अवस्था के लिए, गृहस्थ के साधारण ब्रह्मचर्य तथा दया तक, वे वह एक सूत्र बताते हैं जो इन सबको जोड़ता है — केवल उन्हीं को अर्पित भक्ति।

अध्याय को जानकारो

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 11 (एकादश स्कन्ध)
- अध्याय: 18 (अष्टादश प्रवचन)
- अध्याय शीर्षक: वर्णाश्रम-धर्म का वर्णन
- प्रधान वक्ता: श्रीकृष्ण, उद्धव को उपदेश देते हुए; समस्त सुकदेव गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित को कहा गया
- प्रधान श्रोता: उद्धव; तथा राजा परीक्षित
- मुख्य स्थान: द्वारका, भगवान् के उद्धव के साथ अन्तिम संवाद में
- केन्द्रीय विषय: वानप्रस्थ तथा संन्यासी के कर्तव्य, संन्यासी के वास्तविक लक्षण, तथा गृहस्थ-भक्त के पावन कर्तव्य, सभी भगवद्-भक्ति से मुकुटित
- प्रधान श्लोक-सीमा: स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 1-48
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

पिछले अध्याय का सन्दर्भ

पिछले प्रवचन में, भगवान् ने प्रत्येक वर्ण तथा वृत्ति के उचित कर्तव्यों का वर्णन किया, और बताया कि गृहस्थ को प्रतिदिन देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा समस्त प्राणियों की पूजा अपने ही स्वरूप मानकर करनी चाहिए। उन्होंने एक गहरे अन्तर के साथ समाप्त किया: जो गृहस्थ अपने ही घर में अनासक्त रहकर जीता है, पत्नी तथा सन्तान को पथिकशाला में मिले सहयात्री मानते हुए, वह मुक्त विचरता है; किन्तु जो धन तथा सन्तान की लालसा में बँधा है, वह मृत्यु पर घोर अन्धकार में डूब जाता है। उद्धव के समक्ष भक्तिपूर्ण गृहस्थ बने रहने, वन में जाने, या संसार त्यागने — यह विकल्प रखकर, भगवान् अब प्रत्येक मार्ग को क्रमशः उद्घाटित करते हैं।

वन में प्रवेश — वानप्रस्थ की तपस्या

भगवान् ने पुनः कहना आरम्भ किया, सर्वप्रथम वनवासी के जीवन की ओर मुड़ते हुए।

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्या न्यस्य सहैव वा ।

वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

śrī-bhagavān uvāca vanaṁ vivikṣuḥ putreṣu bhāryāṁ nyasya sahaiva vā vana eva vasesh chāntas tṛtīyaṁ bhāgam āyusaḥ

अर्थ: भगवान् ने पुनः कहा: वन में जाने का इच्छुक गृहस्थ, अपनी इन्द्रियों को पूर्णतः वश में करके, अपनी पत्नी को पुत्रों की देखभाल में सौंप दे — अथवा उसे साथ ले जाए — और अपने आयुष्य का तृतीय भाग अकेले वन में बिताए। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 1)

उसका भोजन केवल यज्ञ-योग्य वन्य कन्द, मूल तथा फल हो, वस्त्र केवल वल्कल, तृण या मृगचर्म; वह अपने केश तथा दाढ़ी को बिना सँवारे बढ़ने दे, दिन में तीन बार स्नान करे, तथा भूमि पर शयन करे।

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड्जले ।

आकण्ठमग्नः शिशिर एवंवृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥

grīṣme tapyeta pañcāgnīn varṣāsv āsāra-ṣāḍ jale ākaṇṭha-magnaḥ śīsira evaṁ vṛttas tapas caret

अर्थ: ग्रीष्म में वह पञ्चाग्नि के मध्य बैठकर तप करे; वर्षा में वह मूसलाधार वृष्टि में खड़ा रहे; तथा शिशिर ऋतु के शीतलतम महीनों में गले तक जल में डूबा रहे — इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हुए वह अपनी तपस्या करे। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 4)



भगवान् वानप्रस्थ की तपस्या का वर्णन करते हैं — भोजन के लिए वन्य फल, वस्त्र के लिए वल्कल तथा तृण, ग्रीष्म में पञ्चाग्नि तथा शिशिर में जल में निमज्जन, सब कुछ केवल उन्हीं के लिए किया गया (श्लोक 4)।

वह केवल वही खाए जो अग्नि में पका हो या काल से पका हो, भण्डार पर निर्भर रहने के बजाय प्रतिदिन अपना भोजन स्वयं जुटाए। वन में रहकर भी वह ऋतु-ऋतु के अग्नि-संस्कार करता रहे — किन्तु पशु-बलि द्वारा कभी नहीं, ऐसा भगवान् ने दृढ़तापूर्वक कहा। इस प्रकार अन्त तक निभाई गई तपस्या हर्षित मुनि को महर्लोक होते हुए भगवान् के ही सामीप्य तक ले जाती है; और इससे अधिक मूर्ख कोई नहीं, उन्होंने जोड़ा, जो इतनी अमूल्य साधना को किसी छोटी-सी क्षणिक इच्छा की पूर्ति में व्यय करे।

वन से संन्यास के दण्ड तक

जब वृद्धावस्था ऐसी कठोर तपस्या को असम्भव बना दे, तब वनवासी अपने द्वारा पोषित अग्नियों को स्वयं में समेट ले और, मन भगवान् पर स्थिर करके, अग्नि में ही प्रवेश कर जाए — यह निराशा का नहीं अपितु एक प्राचीन, सोचा-समझा संस्कार है। किन्तु यदि इसके बदले पुण्य-कर्मों से प्राप्त स्वर्गलोकों के प्रति भी सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो, तो वह तुरन्त ही गृहत्यागी परिव्राजक बनकर निकल पड़े, विहित विधि से भगवान्

की आराधना करके तथा जिन पुरोहितों ने उसकी सेवा की उन्हें सर्वस्व अर्पित करके। भगवान् ने एक कोमल चेतावनी भी जोड़ी: स्वयं देवगण भी, इस भय से कि कोई साधक उन्हें लाँघकर परमपद प्राप्त न कर ले, कभी-कभी पत्नी या सम्बन्धी के रूप में बाधाएँ उत्पन्न करते हैं — ऐसी बाधाएँ जिनसे दृढ़निश्चयी साधक को कभी विचलित नहीं होना चाहिए।

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।

त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि ॥ १५ ॥

bibhṛyāc cen munir vāsaḥ kaupīnācchādanam param tyaktam na daṇḍa-pātrābhyām anyat kiñcid anāpadi

अर्थ: यदि संन्यासी कोई वस्त्र रखे भी, तो केवल कौपीन को ढकने योग्य एक वस्त्र; दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त, वास्तविक आपत्ति के बिना, उसे त्यागी हुई किसी भी वस्तु को नहीं रखना चाहिए। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 15)



संन्यास ग्रहण करते हुए, परिव्राजक अपने त्यागे हुए में से केवल एक वस्त्र, एक दण्ड तथा एक कमण्डलु ही रखता है, और वह भी केवल वास्तविक आवश्यकता में (श्लोक 15)।

संन्यासी के वास्तविक लक्षण

संन्यासी भूमि को दृष्टि से देखकर ही पग रखे, कहीं किसी अदृश्य प्राणी को हानि न पहुँचे; वह केवल वस्त्र से छाना हुआ जल पिए; केवल वही बोले जो सत्य की कसौटी पर खरा उतरे; तथा केवल वही करे जो उसका शुद्ध विवेक स्वीकृत करे।

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।

न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥ १७ ॥

maunānīhānilāyāmā daṇḍā vāg-deha-cetasām na hy ete yasya santy aṅga veṇubhir na bhaved yatiḥ

अर्थ: वाणी पर मौन, शरीर पर स्वार्थरहित कर्म, तथा मन पर प्राणायाम — ये ही तीन सच्चे दण्ड हैं; जिसके पास ये तीनों नहीं, वह केवल बाँस के दण्ड धारण करने मात्र से संन्यासी नहीं बन जाता। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 17)

उसका बाह्य आचरण सरल है: वह केवल योग्य ब्राह्मणों से, बिना पूर्व-निश्चय के चुने सात घरों से अधिक नहीं, भिक्षा माँगे, जो मिले उसी में सन्तुष्ट रहे; भोजन से पहले वह भगवान् तथा समस्त प्राणियों के लिए एक भाग अलग रखे, फिर जो शेष बचे उसे मौन होकर खाए। अकेला तथा अनासक्त, वह पृथ्वी पर विचरण करते हुए आत्मा में ही आनन्दित रहे, उसे भगवान् से अभिन्न मानकर चिन्तन करे।

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।

बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥ २२ ॥

anvīkṣetātmano bandhaṁ mokṣaṁ ca jñāna-niṣṭhayā bandha indriya-vikṣepo mokṣa eṣāṁ ca saṁyamah

अर्थ: दृढ़ विचार द्वारा वह आत्मा के बन्धन तथा मोक्ष के वास्तविक स्वरूप की जाँच करे: बन्धन इन्द्रियों का बाहर बिखरना है, और मोक्ष उनका पूर्ण संयम ही है। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 22)

इसी कारण वह छहों इन्द्रियों को — पाँच बाह्य इन्द्रियाँ तथा चंचल मन — वश में करे, और पृथ्वी के पावन तीर्थों, नदियों, पर्वतों तथा आश्रमों में विचरण करते हुए अपने ही साथी तपस्वियों के आश्रमों में बार-बार भिक्षा माँगे, क्योंकि ऐसे प्राप्त अन्न से मन शीघ्र शुद्ध होता है और साधक अपने जीवन के सच्चे लक्ष्य तक शीघ्र पहुँचता है।

समदृष्टि तथा समस्त प्राणियों में एक आत्मा

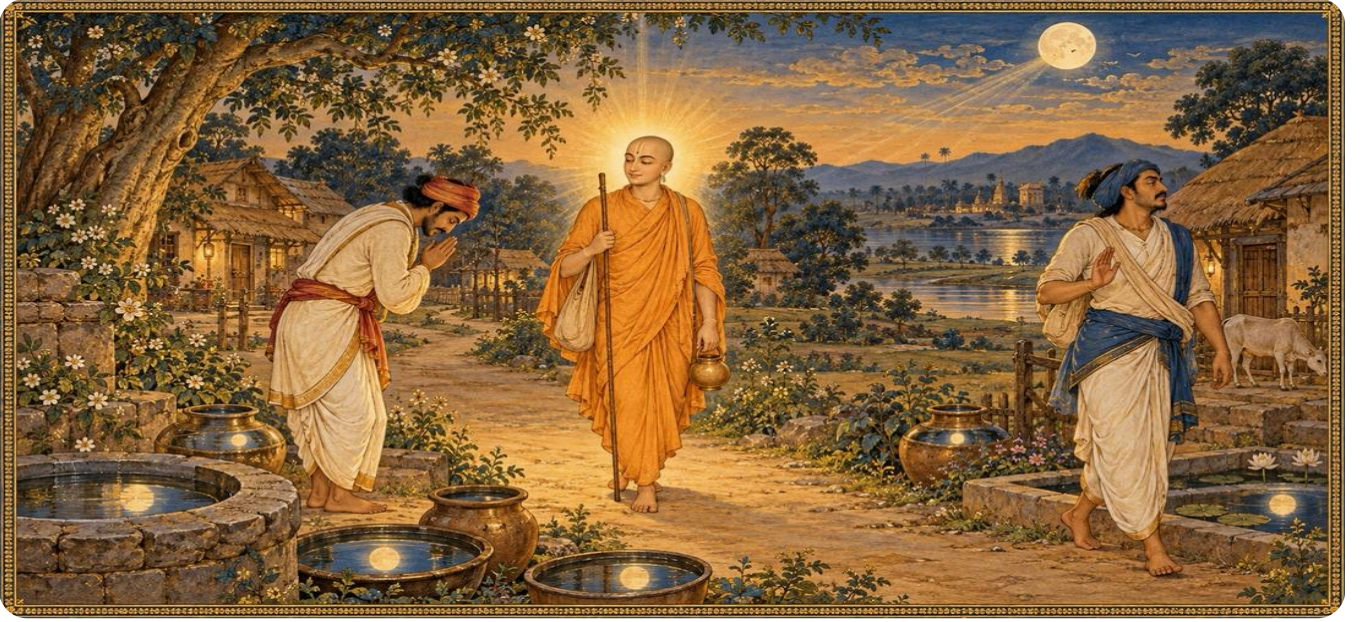
उसे इस नश्वर संसार को कभी सत्य न मानना चाहिए, क्योंकि जो कुछ दीखता है वह अन्ततः नष्ट हो जाता है; ऐसा साधक अपने सच्चे स्वरूप में स्थित रहता है, किसी भी एक आश्रम के बाह्य नियमों से परे, कठोर वचनों को धैर्यपूर्वक सहते हुए तथा किसी को तुच्छ न मानते हुए, शरीर के लिए किसी भी प्राणी से शत्रुता कभी न करते हुए (श्लोक २६-३१)।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।

यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥ ३२ ॥

eka eva paro hy ātmā bhūteṣv ātmany avasthitaḥ yathendur uda-pātreṣu bhūtāny ekātmakāni ca

अर्थ: वही एक परम आत्मा समस्त प्राणियों में तथा अपने ही स्वरूप में समान रूप से स्थित है, जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होता है; और समस्त प्राणी, अपने मूल स्वरूप में, उसी एक आत्मा के हैं। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 32)



विवेकी जन न किसी से विचलित होते हैं, न किसी को विचलित करते हैं, क्योंकि वही एक परम आत्मा समस्त प्राणियों में समान रूप से बसती है, जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होता है (श्लोक 31-32)।

इस दृष्टि में स्थिर रहकर, वह न तो भिक्षा न मिलने पर खिन्न होता है, न अधिक मिलने पर हर्षित, यह जानते हुए कि दोनों भगवान् के ही हाथ में हैं; पूर्व अभ्यास का जो कुछ शेष रह जाता है, वह केवल प्रारब्ध के वेग से तब तक चलता है जब तक मृत्यु उसे अन्ततः तथा सदा के लिए भगवान् से एक नहीं कर देती।

गुरु, तथा एक सावधानी का शब्द

जो इन्द्रिय-सुख से सचमुच विरक्त हो चुका है, किन्तु भगवान् तक ले जाने वाले कर्तव्यों में अभी शिक्षित नहीं हुआ, उसे विनम्रतापूर्वक ध्यानमग्न किसी गुरु की शरण लेनी चाहिए, श्रद्धापूर्वक सेवा करते हुए, जब तक परमतत्त्व का ज्ञान न हो जाए। किन्तु भगवान् संन्यास के नकली रूप के विषय में भी उतने ही स्पष्ट थे: जो संन्यासी का त्रिदण्ड धारण करता है जबकि उसकी इन्द्रियाँ अवश ही बनी रहती हैं, वह उन देवताओं को ही छलता है जिनकी पूजा उसने त्याग दी, स्वयं को भी छलता है, और हृदय में निवास करने वाले भगवान् को भी छलता है — ऐसा व्यक्ति, उन्होंने चेतावनी दी, इस लोक तथा परलोक दोनों से वंचित रह जाता है।

चतुर्विध धर्म तथा गृहस्थ-भक्त

अपनी सम्पूर्ण शिक्षा के सूत्रों को समेटते हुए, भगवान् ने जीवन की चारों अवस्थाओं के कर्तव्यों को एक साथ रखा।

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ।

गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ ४२ ॥

bhikṣor dharmah śamo 'hiṁsā tapa īkṣā vanaukasaḥ gṛhiṇo bhūta-rakṣejyā dvijasyācārya-sevanam

अर्थ: परिव्राजक भिक्षु का धर्म मन की शान्ति तथा अहिंसा है; वनवासी का तप तथा तत्त्व-विचार; गृहस्थ का समस्त प्राणियों की रक्षा तथा यज्ञ का अनुष्ठान; और ब्रह्मचारी का अपने गुरु की सेवा। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 42)

और कहीं गृहस्थ यह न माने कि भक्ति उसकी पहुँच से परे है, भगवान् तुरन्त उसके कर्तव्य का विस्तार से वर्णन करने लगे।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।

गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥ ४३ ॥

brahmacaryam tapaḥ śaucaṁ santoṣo bhūta-sauhṛdam gṛhasthasyāpy ṛtau gantuḥ sarveṣāṁ mad-upāsanam

अर्थ: ब्रह्मचर्य, तप, शुद्धता, सन्तोष तथा समस्त प्राणियों के प्रति सौहार्द — ये ही उस गृहस्थ का भी पावन कर्तव्य हैं जो अपनी पत्नी के पास केवल ऋतुकाल में ही जाता है; और मेरी उपासना ही इन सभी अवस्थाओं का सामान्य कर्तव्य है। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 43)



ब्रह्मचर्य, शुद्धता, सन्तोष तथा समस्त प्राणियों के प्रति दया — ये ही गृहस्थ का भी पावन कर्तव्य हैं — और भगवान् की उपासना ही जीवन की हर अवस्था का समान कर्तव्य है (श्लोक 43)।

जो कोई भी इस प्रकार भगवान् की आराधना करता है, अपने ही स्थान के उचित कर्तव्य द्वारा, भगवान् की प्रसन्नता के अतिरिक्त कुछ भी न चाहते हुए, वह शीघ्र ही समस्त प्राणियों को साक्षात् भगवान् ही देखने लगता है — और इस प्रकार ऐसी भक्ति पाता है जिसे कुछ भी डिगा नहीं सकता।

भाक्ते — प्रत्येक धर्म का शिखर

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥ ४५ ॥

bhaktyoddhavānapāyinyā sarva-loka-maheśvaram sarvotpatty-apyayam brahma kāraṇam mopayāti saḥ

अर्थ: हे उद्धव, अटूट भक्ति द्वारा ऐसी आत्मा मुझे ही प्राप्त होती है — समस्त लोकों के परम ईश्वर, परब्रह्म, वह कारण जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिसमें वे लय हो जाते हैं। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 45)

ऐसे श्रद्धापूर्ण जीवन से शुद्ध हुआ हृदय शीघ्र ही उस ज्ञान को भी धारण करता है जो उनकी महिमा को सुनता है, और उस साक्षात्कार को भी जो उसे प्रत्यक्ष अनुभव करता है, और बिना किसी विलम्ब के उन्हें प्राप्त हो जाता है।

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।

स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥ ४७ ॥

varṇāśramavatāṁ dharma eṣa ācāra-lakṣaṇaḥ sa eva mad-bhakti-yuto niḥśreyasa-karaḥ paraḥ

अर्थ: अपने आचार-नियमों से चिह्नित यह धर्म ही प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम का उचित कर्तव्य है; किन्तु वही धर्म, जब मेरी भक्ति से युक्त हो जाता है, परम कल्याण का सर्वोच्च साधन बन जाता है। (स्कन्ध 11, अध्याय 18, श्लोक 47)

यहाँ भगवान् यह उद्धाटित करते हैं कि उन्होंने उद्धव को जीवन की प्रत्येक अवस्था से क्यों गुज़ारा, न कि किसी एक को ही सर्वोच्च बताकर। वर्ण तथा आश्रम के नियम — क्या खाना है, किसकी सेवा करनी है, कैसे भिक्षा माँगनी है या कैसे पूजा करनी है — स्वयं में केवल एक आचार-संहिता हैं: उपयोगी, यहाँ तक कि आवश्यक, किन्तु अधिक से अधिक जीवन को सुव्यवस्थित ही कर सकते हैं। इन्हीं कर्तव्यों के भीतर अर्पित भक्ति ही उन्हें कुछ अधिक बना देती है: परम कल्याण का निश्चित साधन। संन्यासी का दण्ड, गृहस्थ की गृह-अग्नि, ब्रह्मचारी की गुरु-सेवा — इनमें से कोई भी अपने बल पर मुक्ति नहीं देता; भगवान् को प्रेमपूर्वक अर्पित होकर, प्रत्येक वही एक मार्ग बन जाता है। यही इस समूचे अध्याय की नियम तथा अनुशासन की विविधता के पीछे छिपी हुई एकता है। इसी के साथ, भगवान् ने उद्धव से कहा, उन्होंने उस प्रश्न का पूर्ण उत्तर दे दिया जो उद्धव ने उनसे पूछा था।

इस अध्याय की प्रमुख शिक्षाएँ

1. तीन द्वार, एक ही गन्तव्य। चाहे कोई आत्मा वनवासी बनकर रहे, संन्यासी का दण्ड धारण करे, या गृहस्थ ही बना रहे, प्रत्येक वह द्वार है जिसे स्वयं भगवान् ने खोला है — यह श्रेष्ठता का क्रम नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न हृदयों के लिए उपयुक्त मार्ग हैं (श्लोक 1-15)।
2. दण्ड संन्यासी नहीं बनाता। मौन, स्वार्थरहित कर्म तथा प्राणायाम ही संन्यास के सच्चे लक्षण हैं; इनके बिना संन्यास के बाह्य चिह्न खोखले हैं (श्लोक 17)।

3. बन्धन तथा मोक्ष दोनों इन्द्रियों में ही बसते हैं। इन्द्रियों का बाहर बिखरना बन्धन है; उन्हें समेटकर वश में करना मोक्ष है — वही शक्तियाँ, दो भिन्न दिशाओं में मुड़ी हुई (श्लोक 22)।

4. प्रत्येक प्राणी में एक ही आत्मा चमकती है। जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही वही आत्मा प्रत्येक प्राणी में बसती है; इसे जानकर विवेकी जन मान तथा अपमान दोनों को समान भाव से सहते हैं और किसी को शत्रु नहीं मानते (श्लोक 31-32)।

5. अप्रस्तुत साधक को विनम्रतापूर्वक गुरु की सेवा करनी चाहिए। जो भगवान् तक ले जाने वाले कर्तव्यों में अभी शिक्षित नहीं, उसे ध्यानमग्न गुरु की शरण लेकर श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए, जब तक परमतत्त्व ज्ञात न हो (श्लोक 38-39)।

6. आडम्बर के प्रति एक चेतावनी। जो इन्द्रियों को वश में किए बिना संन्यासी का ढण्ड धारण करता है, वह देवताओं को, स्वयं को तथा हृदयस्थ भगवान् को छलता है, और इस लोक तथा परलोक दोनों से वंचित रह जाता है (श्लोक 40-41)।

7. भक्ति प्रत्येक धर्म का शिखर है। अपने वर्ण तथा आश्रम के वही नियम, जब भगवान् को प्रेमपूर्वक अर्पित किए जाते हैं, परम कल्याण का सर्वोच्च साधन बन जाते हैं — यही इस अध्याय के प्रत्येक मार्ग के पीछे छिपा एक सत्य है (श्लोक 47)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

भगवान् का उद्भव को इस अध्याय के इतने द्वारों से गुज़ारना, किसी एक ही द्वार की ओर संकेत करने के बदले, कुछ गहराई से स्पर्श करता है। वे किसी भी आत्मा को वन में भाग जाने के लिए बाध्य नहीं करते, न ही किसी गृहस्थ से कहते हैं कि परिस्थितियाँ बदले बिना भक्ति उसकी पहुँच से परे है। वे केवल यह दिखाते हैं कि जीवन की प्रत्येक अवस्था हृदय से क्या माँगती है, और फिर इन सभी को — वनवासी की अग्नि, परिव्राजक की भिक्षा-पात्र, गृहस्थ की सन्ध्या-आरती — उसी एक प्रेम-धारा में समेट लेते हैं जो उनकी ओर बहती है। हमसे यह नहीं माँगा जाता कि हम कोई और बन जाएँ; केवल यही माँगा जाता है कि जो हम पहले से हैं, जहाँ हम पहले से खड़े हैं, वही भगवान् को अर्पित करें, जो प्रत्येक हृदय में समान रूप से बसते हैं। इस अध्याय में अनेक जलपात्रों में प्रतिबिम्बित उस एक चन्द्रमा से अधिक मार्मिक कुछ नहीं — एक ही प्रकाश, अगणित जलपात्र, कोई भी पात्र चन्द्रमा के अधिक निकट नहीं। जो हमारी प्रशंसा करता है और जो हमारा अपमान करता है, दोनों में उसी एक प्रकाश को देखना ही इस शिक्षा को जीना आरम्भ करना है।

एक दैनिक भक्ति-अभ्यास

आज, अपने ही जीवन-स्थान से जुड़ा कोई साधारण कर्तव्य चुनिए — परिवार की देखभाल, अध्ययन का एक घण्टा, या कोई भी छोटी सेवा जिसे आप बिना सोचे-समझे करते हों — और इसे आरम्भ करने से पहले सचेत रूप से भगवान् को अर्पित कीजिए। यदि कोई कठोर शब्द आपकी ओर आए, तो इस अध्याय में वर्णित धैर्य का अभ्यास कीजिए: न विचलित होते हुए, न किसी को विचलित करते हुए, यह स्मरण रखते हुए कि वही एक आत्मा उस बोलने वाले में भी समान रूप से प्रतिबिम्बित है। दिन का समापन भगवान् के पावन नाम का धीरे से जप करके कीजिए, “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय,” जिससे यह सरलतम कार्य भी कर्तव्य के माध्यम से अर्पित भक्ति बन जाए।

उपसंहार

एकादश स्कन्ध का अष्टादश प्रवचन उद्धव को जीवन की समस्त पावन अवस्थाओं से गुज़ारता है — वनवासी की शान्त तपस्या, तथा संन्यासी का गहरा त्याग, जो उसके धारण किए दण्ड से नहीं अपितु मौन, अहिंसा तथा संयमित श्वास से चिह्नित होता है। बन्धन तथा मोक्ष, भगवान् सिखाते हैं, दोनों ही इस बात के प्रश्न हैं कि इन्द्रियाँ किस दिशा में मुड़ी हैं, और वही एक आत्मा प्रत्येक प्राणी में समान रूप से चमकती है, जिससे विवेकी जन मान तथा अपमान दोनों को उसी समभाव से सहते हैं। जो साधक अभी तैयार नहीं, उसके लिए वे गुरु की विनम्र सेवा की सलाह देते हैं, और जो त्याग का वेश धारण करके भी आन्तरिक अनुशासन से रहित है, उसके लिए एक स्पष्ट चेतावनी। तत्पश्चात् वे गृहस्थ के ही साधारण कर्तव्यों — ब्रह्मचर्य, शुद्धता, सन्तोष, दया — की ओर मुड़ते हैं, और घोषित करते हैं कि वही उपासना जीवन की हर अवस्था से समान रूप से अपेक्षित है। अध्याय का सबसे गहरा शब्द यही है: धर्म, चाहे जैसे भी पालन किया जाए, परम कल्याण का सर्वोच्च साधन तभी बनता है जब वह भगवान् को प्रेमपूर्वक अर्पित किया जाए।

श्रीमद्भागवतम् की दिव्य वाणी हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति जगाए।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

सन्दर्भ तथा आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), एकादश स्कन्ध, अष्टादश प्रवचन, पृष्ठ 595–600।
- शृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़्डम • बिस्वा सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा के अनुसार प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, श्रद्धापूर्ण पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दिए गए हैं और उनके अर्थ सारांश रूप में हैं। यह किसी एक प्रकाशक के निरन्तर अनुवाद या टीका का पुनरुत्पादन नहीं है। किसी प्रकाशक से किसी सम्बन्ध या समर्थन का दावा नहीं किया गया है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव

ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-skandh-11-adhyay-18-varnashram-dharma-hi.html

श्रीमद्भागवतम् विज़्डम • कल्कि अवतार इंटरनेशनल • बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट